



ज्ञानविधि

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)

3049-2327(Print)

IIFS Impact Factor-2.25

Vol.-2; Issue-1 (Jan.March) 2025

Page No.- 186-189

©2025 Gyanvidha

www.journal.gyanvidha.com

कला कौशल

यमुना कृष्णा पुरं, यशपाल नगर,
न्यू कालोनी, बाघा, डाक-सुहृद्
नगर, बेगूसराय -851218.

Corresponding Author :

कला कौशल

यमुना कृष्णा पुरं, यशपाल नगर,
न्यू कालोनी, बाघा, डाक-सुहृद्
नगर, बेगूसराय -851218.

दलित साहित्य से जुड़े सवाल

दलित साहित्य से क्या तात्पर्य है? यदि दलितों के द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की श्रेणी में रखा जाता है तो यह दलित साहित्य की पूर्ण परिभाषा नहीं मानी जा सकती। भारत में दलितों के साहित्य की एक अलग अकादमी के जन्म के पूर्व ही यहां 1917 में सफल सोवियत क्रांति से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने दलितों, अछूतों के पक्ष में बोलने, लिखने और जीने की प्रतिबद्धता ले ली थी।

महात्मा फुले और बाबा साहब भीमराव अंबेडकर की प्रेरणा से सर्वप्रथम 1960 के आसपास मराठी साहित्य में दलित आंदोलन शुरू हुआ। परंतु प्रेमचंद ने बहुत पहले 1936 में लिखे अपने उपन्यास 'गोदान' में एवं दूसरी कथा रचनाओं में दलितों में विद्रोह की चेतना जगाना शुरू कर दिया था। एक प्रसंग देखिए। सिलिया चमारिन और पंडित मातादीन के यौन संबंध पर प्रेमचंद लिखते हैं-"इतना सुनना था कि दो चमारों ने लपक कर मातादीन के हाथ पकड़ लिये, तीसरे ने झपटकर उसका जनेऊ तोड़ डाला और इसके पहले कि मातादीन और झिंगुरी सिंह अपनी-अपनी लाठी संभाल सकें दो चमारों ने मातादीन के मुंह में एक बड़ी-सी हड्डी का टुकड़ा डाल दिया। मातादीन दाँत जकड़ लिए, फिर भी वह घिनौनी वस्तु उनके होंठों में तो लग ही गयी। उन्हें मतली हुई और मुंह आपसे आप खुल गया और हड्डी कंठ तक जा पहुंची।"

आप विद्वान् यह भी जानते हैं कि प्रेमचंद अछूत और दलित परिवार में नहीं जन्मे थे। परंतु प्रगतिशील प्रभाव ने उनसे यह सब कराया। इसी तरह 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुआं' आदि कहानियों को सिर्फ इसलिए नहीं छोड़ा जा सकता है कि इसका लेखक एक सवर्ण कुलोत्पन्न है।

आप महापंडित राहुल सांकृत्यायन का भी उदाहरण ले सकते हैं। उन्होंने दलित भूमिहीनों के लिए 24 फरवरी, 1939 को बिहार के सिवान जिला मुख्यालय से 20 किलोमीटर दूर अंबारी गांव में जमींदारों की लाठियां खायीं। उसका आवाहन किया 'भागों नहीं दुनिया को बदलो' और उसके सामने 'बाईसवीं सदी' के मनोराज्य की परिकल्पना पेश की। जिसमें भंगी कोई जाति

ही नहीं होगी। 1947 में आज़ादी मिलने और 1949 में संविधान बनने के कई वर्ष पूर्व 1944 में ही राहुल जी ने अछूतों के लिए आरक्षण की वकालत की थी। बानगी देखिए-"हिंदुओं में एक तिहाई अछूत हैं, उनको भी बड़ी-बड़ी नौकरी मिलनी चाहिए। काहे जज, कलक्टर, मजिस्ट्र सब बड़ी-बड़ी जाति के लोग बनेंगे। हम एक तिहाई हैं, नौकरी में एक तिहाई हमारा हिस्सा होता है।"²

इतना ही नहीं, राहुल जी ने अपनी पुस्तक 'दिमागी गुलामी' में दलित अछूतों के उद्धार का उपाय भी बताया। उन्होंने कहा-"भूमि सुधार करो, गृह निर्माण करो और नौकरी का प्रबंध करो।"³

क्या ब्राह्मण कुल में जन्मे राहुल के द्वारा दलितों के लिए किए गए वैचारिक एवं व्यवहारिक संघर्षों को कभी भुलाया जा सकता है! राहुल के बाद नागार्जुन, शील, सुमन, त्रिलोचन, शमशेर, भैरव प्रसाद गुप्त, हरीश भादानी जैसे अनेक साहित्यकार अपने वर्ण संस्कारों को छोड़कर अछूतों, शोषितों, पीड़ितों, दलितों के लिए लिखने हेतु प्रतिबद्ध रहे हैं, कटिबद्ध रहे हैं, संबद्ध रहे हैं, आबद्ध रहे हैं।

यहां गौर तलब है कि दलित चिंतन के संदर्भ में इतिहास की दो घटनाओं का प्रमुखता के साथ उल्लेख किया जाता है। साहित्य में भी उसे प्रतीक बना कर विपुल सृजन कार्य होता रहा है। वह है रामायण का शंबूक और महाभारत का एकलव्य प्रसंग। पहली बात तो यह कि यह दोनों ग्रंथ साहित्यिक रचना हैं। इसमें ऐतिहासिक साक्ष्यों की तलाश कठिन है। हां, साहित्यिक रचनाओं में आप युग की प्रवृत्तियों को पा सकते हैं। दूसरी बात दोनों के लेखक जन्मना शूद्र माने जाते हैं। शंबूक की हत्या का प्रसंग वाल्मीकि रामायण में मिलता है। ज्ञात हो कि वाल्मीकि शूद्र माता-पिता की संतान थे। बड़े होकर वे डाकू बन गये। तो स्वाभाविक रूप से कोई डाकू गरीबी या प्रताड़ना के कारण ही बनता है। बाद में वे संत और महाकवि बन गये। यानी शूद्र वाल्मीकि की रामायण में राजा राम के द्वारा त्रेता युग में शूद्र शंबूक की तपस्या करने

के कारण गर्दन काट दी जाती है। आज भी दलितों अछूतों का एक बड़ा तबका अपने नाम के साथ वाल्मीकि टाइटिल लगाया जाता है। प्रमुख दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि इसके उदाहरण हैं। तो इसमें महाकवि वाल्मीकि का कोई दोष नहीं। शंबूक प्रसंग तो कथा क्रम में एक प्रतीक बन कर आया है, जो उनके समकालीन परिवेश और परिस्थिति में विद्यमान था। ऐसा ही बाद के तुलसी साहित्य में भी देखा जा सकता है।

द्वारपर युग के महाभारत में शूद्र मल्लाह जाति के एकलव्य का द्रोणाचार्य द्वारा गुरु दक्षिणा के नाम पर अंगूठा काट कर मांग लिया जाता है। तिसपर द्रोणाचार्य एकलव्य के आभासी गुरु थे। इसकी रचना कृष्ण द्वैपायन व्यास ने की। वेद की रचना करने के कारण इन्हें वेदव्यास कहा गया। वेदव्यास के माता-पिता सत्यवती और पराशर थे। उनके पितामह शक्ति मुनि और परपितामह वसिष्ठ मुनि थे। मनु ने वसिष्ठ को शूद्रों का जनक कहा है। यानी शूद्र वसिष्ठ के परपोता व्यास हुये, जिन्होंने वेद की रचना की। उसी वेद में एकलव्य का प्रसंग आया है। इसके बारे में भी यही कहा जा सकता है कि एकलव्य अपने युग की प्रथाओं और परंपराओं का प्रतिनिधित्व करता है।

इसका दूसरा पहलू समाधान का है। आजकल दलितों और पिछड़ों के पुश्तैनी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पिछड़ेपन को लेकर दो तरह की विचारधाराएं काम कर रही हैं। एक विचारधारा यह है कि इस असमानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की बागडोर कथित सवर्णों या द्विजों के हाथ से छीन कर दलितों-पिछड़ों को अपने हाथ में ले लेनी चाहिए। दूसरी विचारधारा पुश्तैनी पिछड़ेपन के जिम्मेवार इस सामंती, पूंजीवादी समाज को ही बदल देने की है। अर्थात् जिस सामंती समाज ने हमारी बहुसंख्यक आबादी को वर्ण और जाति के नाम पर बांट कर रखा, उसका शोषण किया, उसे ही बदलकर एक नया समाज बनाया जाये। आखिर इस विभेदकारी अमानवीय व्यवस्था से मोह ही क्यों?

ऐसा नहीं की इन दो विचारधाराओं का अस्तित्व पहले नहीं था। बल्कि आजकल यह बात अत्यधिक मुखर रूप से सामने आ गई है। यह एक ऐसा पेचीदा और उलझा हुआ सवाल है कि हमारे समाज बदलने के लिए कई प्रतिबद्ध साथी, साहित्यकार भी अनजाने 'वर्चस्व' और 'बागडोर' के बहाने इस सामंती, पूंजीवादी समाज को ही बचाने की अदृश्य मुहिम के साथ हो जाते हैं। वे इसे बचाने के लिए कई मोरचों पर सक्रिय शक्तियों के हिस्सेदार बन जाते हैं। उनमें साहित्य भी एक मोरचा है।

सबसे विकट परिस्थिति उन भोले-भाले करोड़ों दलितों, असल पिछड़ों और गरीबों के सामने होती है, जो इन दो विचारधाराओं की असलियत को नहीं समझ पाते। व्यवस्था बदलने का व्रत बड़ा लंबा और जोखिम भरा कार्य है, जबकि वर्चस्व और बागडोर की राजनीति बड़ी मनमोहक, तोषपूर्ण और आकर्षक है। यह राजनीति उस बीमार की तरह है, जिसे बीमारी ठीक होने वाले परहेज़ का उल्लंघन तत्काल बड़ा अच्छा लगता है। वर्चस्व और बागडोर वाली राजनीति समाज में कुछ वर्ण और जाति को स्थानापन्न कर कुछ नये वर्ण और जाति को उस जगह को भरने के लिए उकसाती है। जिसे नव ब्राह्मणवाद, नव सामंतवाद और नवधनाढ्य वर्ग के रूप में देखा जा सकता है।

इसे कुछ उदाहरणों से समझा जा सकता है। पिछले दिनों बिहार के समस्तीपुर जिले के दलसिंहसराय अनुमंडलीय न्यायालय में एक अभियोग पत्र दाखिल हुआ। जिसके अनुसार विद्यापति नगर थाना के सिमरी गांव की सुशीला देवी पति राम नारायण मलिक (दलित) ने अपने ही गांव के सोफेन्द्र पासवान, जितेन्द्र पासवान, राम ईश्वर पासवान, चंद्रिका पासवान, बुद्धू पासवान और उनके परिजनों (दलित) पर छुआछूत का एक अभियोग पत्र-35/2014 दायर किया।

मुकदमे के अनुसार दिनांक 12-1-2014 की सुबह में प्रार्थिनी अभियोगिनी का पुत्र प्रकाश मलिक चाय की दुकान पर था। दुकानदार जूठा ग्लास धो रहा था। अतः दुकानदार के कहने पर उबल रही चाय को

प्रकाश ने चम्मच से चला दिया। इस पर चाय की प्रतीक्षा में बैठा सोफेन्द्र पासवान दुसाध ने गुस्से में कहा कि अब हमलोग चाय नहीं पीएंगे। क्योंकि प्रकाश डोम जाति का है। इससे चाय छुआ गयी। इतना ही नहीं, सोफेन्द्र ने प्रकाश के साथ गाली-गलौज और मारपीट भी की। इस अनर्थ, अन्याय पर प्रकाश मलिक के परिवार ने जब गांव में पंचायत बुलाई तो वह आग बबूला हो गया। सोफेन्द्र के परिवार वाले ने दिनांक 19-1-2014 को हरबे-हथियार से लैस होकर प्रकाश के घर पर धावा बोल दिया। वहां उसने उसके पूरे परिवार को बुरी तरह मारा-पीटा। जब प्रकाश के परिवार वाले विद्यापति नगर थाना गये तो वहां भी कोई कार्रवाई नहीं हुयी। तब थक हारकर प्रकाश मलिक की मां ने न्यायालय में नालिश की।

ज्ञात हो कि इस सामान्य न्यायालय के दंडाधिकारी संयोग से चमार जाति के, उनके पेशकार दुसाध जाति के, कार्यालय लिपिक मुसलमान अंसारी जाति के, सुशीला देवी के वकील नाई जाति के थे। खैर! न्यायिक दंडाधिकारी ने भारतीय दंड विधान की धारा- 147, 323, 427, 448, 504, 506/34 में संज्ञान लिया। यह मात्र एक घटना नहीं। यह एक सामाजिक उभार बन कर सामने आ रहा है। सामाजिक न्याय की मानवीय और न्यायोचित मांग जातिवाद के दलदल में फँस गयी है। डाक्टर राम विलास शर्मा सही कहा करते थे कि जातिवादी पार्टियां सामाजिक न्याय की बात करती हैं। इस संबंध में एक दूसरा उदाहरण भी लेना प्रासंगिक होगा।

बिहार और दूसरे राज्यों में अहीर, कुर्मी कोयरी आदि दबंग शूद्र जातियां दलित और दूसरे वास्तविक पिछड़ों के साथ भूमिहारों, राजपूतों, कायस्थों जैसा बर्ताव करती हैं। 27 मई, 1977 और 25 फरवरी, 1980 को कमशः पटना जिले के बेलछी और पिपरा में कुर्मी जाति के भूमि स्वामियों ने दलितों का सामूहिक नरसंहार किया। इसी तरह 11 अगस्त, 1988 को जहानाबाद जिले के दमुहां खगड़ी गांव में अहीर जाति के भूस्वामी सामंतों द्वारा मुसहरों का सामूहिक

जनसंहार किया।

दलित चिंतन के इस द्वंद्व को समझे बगैर हम दलित साहित्य को व्यापक फलक नहीं दे सकते।

अतः सर्वप्रथम तो हमें हर तरह की भ्रांतियों, ग्रंथियों से मुक्त होकर उन तमाम साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों को अपनी जमात में शामिल करना चाहिए, जो दलितों के पक्ष में लिख रहे हैं। दूसरी बात हम अपने सृजन के मातहत पाठकों के बीच वर्गीय संस्कार भी भरें। मेरी समझ से दलित साहित्यकार के सामने यह सबसे बड़ा संकट है। दलित चिंतन से जुड़े लोग दलितों को हिंदू धर्म से अलगाते हैं। उनका कहना यह सही हो सकता है कि कथित रूप से 'पवित्र और अपवित्र' जातियां दोनों हिंदू कैसे हो सकती हैं? कुछ जातियों के प्रवेश से मंदिर पवित्र होता है और कुछ जातियों के प्रवेश से मंदिर अपवित्र हो जाता है तो दोनों जातियां हिंदू कैसे हो सकती हैं? इसी हिंदू धर्म की अवधारणा में दलित जातियों को पुरोहित वर्ण नेम, धर्म और दूसरे द्विज संस्कारों से निषेध करते रहे हैं। पर वही पिछड़ी, दलित जातियां मौक़ा मिलते ही अपने हिंदू होने की क़तार में सबसे आगे लग जाती हैं। दलित चिंतकों के दर्शन बहसों और विमर्शों में मंच जीतते हैं, पर धरातल पर कांवड़ ढोने में पिछड़ी, दलित जातियां सबसे आगे हो जाती हैं। करवा चौथ का व्रत करने में पिछड़ी, दलित जातियां सबसे आगे, पंडित, पुरोहितों को 'प्रणाम बाबा' में पिछड़ी, दलित जातियां सबसे आगे, पूजा-पाठ, जनेऊ-बद्धी, टीका-शिखा, जतरा-लग्न, मुहूर्त-माहात्म्य, डायन-ओझा, शगुन-अपशगुन, पवित्र-अपवित्र, ऊँच-नीच में कथित सवर्ण जातियों से होड़ लेने में पिछड़ी, दलित जातियां सबसे आगे। सवर्ण जातियों की तरह अल्पसंख्यक और मुसलमान से घृणा में पिछड़ी, दलित जातियां सबसे आगे। दलित चिंतकों और दलित जातियों के बीच इतना भारी विरोधाभास !

दूसरी बात, पिछड़ा, दलित कहाने वाला व्यक्ति भी पद, पैसा, और प्रतिष्ठा पाकर भूखों, नंगों को उसी

तरह हीन- भावना और घृणा की दृष्टि से देखता है, जैसे एक सवर्ण अधिकारी। इसी भांति दरिद्र भी हमेशा अपने समुदाय की अपेक्षा धनवानों की ओर देखता और उनका ही गीत गाता है।

तीसरी बात हिंदू धर्म की जिन क्रूर वर्ण नीतियों के कारण डाक्टर भीमराव अंबेडकर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया, क्या आज उनके अनुयायी, उनकी प्रेरणाओं से संचालित होने वाली अकादमियां उन भेदभावपूर्ण अवधारणाओं और एवं संस्कारों से मुक्त होने के लिए तत्पर हैं? बाबा साहब अंबेडकर ने बौद्ध धर्म की जिन स्थापनाओं से प्रभावित होकर हिंदू धर्म को छोड़ा था, उन पर बाबा साहब को अपना प्रेरणा स्रोत मानने वाले दलित और दलित साहित्यकार अमल करने के लिए तैयार हैं? बुद्ध ने कहा था-"ईश्वर नहीं है, आत्मा नित्य नहीं है, कोई ग्रंथ स्वतः प्रमाण नहीं है, जीवन प्रवाह इसी शरीर तक परिमित है।"⁴ बाबा साहब की राहों पर चलने वाले साहित्यकार और उनकी अकादमियां इन चीज़ों को अपने साहित्य में उजागर कर पा रही हैं?

यह नहीं होगा कि आप पुरातन संस्कारों से भी चिपके रहें और दलित साहित्यकार भी कहलाएं ! आप पुरोहित वाद से घिरकर अल्पसंख्यक और मुसलमान का विरोध भी करें और दलित साहित्यकार भी कहलाएं ! यदि दलित साहित्यकार ऐसा ही कर रहे हैं तो यह किसी फरेब से कम नहीं है, महान् आत्मा अंबेडकर के अपमान से कम नहीं है।

संदर्भ सूची :

1. गोदान, पृष्ठ संख्या-209.
2. भागो नहीं दुनिया को बदलो, पृष्ठ संख्या-146.
3. दिमागी गुलामी, पृष्ठ संख्या-43-44.
4. राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक बौद्ध दर्शन, पृष्ठ संख्या-1.